

भारतीय राजनीति में जाति

डॉ. कन्हैया लाल मीना

सह आचार्य, राजनीति विज्ञान

सेठ आर.एल. सहरिया राजकीय महाविद्यालय, कालाडेरा, जयपुर (राजस्थान)



शोध सारांश

भारत में औपनिवेशिक दौर में और उसके बाद के शुरूआती दशकों में जाति को आधार बनाकर परिवर्तनकारी राजनीति करने की कोशिशें हुईं। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों में राजनीतिक चेतना भरने की पुरजोर कोशिश की। दक्षिण भारत में रामास्वामी नायकर पेरियार के नेतृत्व में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन चला। इसी तरह राम मनोहर लोहिया ने पिछड़ों की राजनीतिक लामबन्दी करके कांग्रेस और ऊँची जातियों के वर्चस्व को तोड़ने की कोशिश की। लेकिन इसके बावजूद सामान्यतया: जाति और राजनीति के आपसी सम्बन्धों को संदेह की नजर से देखा जाता है। राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हुए अक्सर इसे हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए ख़ास माना जाता है। आमतौर पर लोकतांत्रिक राजनीति को आधुनिकता और जाति को परम्परा का प्रतीक मानते हुए दोनों के विरोधाभासपूर्ण सम्बन्धों पर जोर देने की प्रवृत्ति रही है। अकादमिक स्तर पर राजनीति में जाति की भूमिका को समझने की कोशिश सन् साठ के दशक में शुरू हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राजनीति का आधुनिक स्वरूप विकसित हुआ। अतः यह संभावना व्यक्त की जाने लगी कि देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित होने पर भारत से जातिवाद समाप्त हो जायेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ बल्कि जातिवाद ने न केवल समाज में बल्कि राजनीति में भी प्रवेश करके उग्र रूप धारण कर लिया है। भारत में जातिवाद ने न केवल यहाँ की आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, प्रवृत्तियों को ही प्रभावित किया है, बल्कि राजनीति को भी पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। भारत की राजनीति में जाति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। केन्द्र ही नहीं राजस्थानीय राजनीति भी जातिवाद से प्रभावित है, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए बहुत ही खतरनाक है, क्योंकि इसके कारण राष्ट्रीय एकता एवं विकास मार्ग अवरूद्ध हो रहा है।

संकेताक्षर : दलित, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक, संविधान, राज्य-समाज, औपनिवेशिक, राजनीतिकरण

प्रस्तावना

भारतीय राजनीति के प्रमुख मुद्दों में जातिवाद सर्वोपरि है, जातिवाद किसी न किसी प्रकार हमारी राजनीति को प्रभावित करती है, संविधान निर्माण के समय से ही इनमें कुछ सुधार किये जा रहे हैं, कभी किन्हीं राजनेताओं के द्वारा तो कभी सुधार प्रस्ताव के द्वारा जातिवाद नामक मानसिकता को सुधारने का प्रयास किया जाता रहा है। इसका गवाह इतिहास स्वयं है, आज राजनीति में या मनुष्य के जीवन को यदि सबसे ज्यादा प्रभावित कुछ करता है, तो वह है-“जातिवाद”। इसकी जड़ें प्राचीन काल से ही इस कदर भारतीय राजनीति में ज़मी हुई हैं, कि इसे निकाल फेंकने का प्रयास भर मानव मात्र कर पाया है। तमाम प्रयासों के बावजूद भी

भारतीय राजनीति में अपनी जड़ों को जमाये हुए हैं, जो वर्तमान राजनीति में एक भयंकर बीमारी प्रतीत होता है।

हमारे समाज में एक बड़ी ही व्यापक और मुख्य भूमिका अति पिछड़ों तथा दलितों की है, दलितों का हमारे जीवन में प्राचीन काल से ही विशेष भूमिकाएँ रही हैं, ये समाज के ऐसे वर्ग हैं, जो अपना एक अलग महत्त्व रखते हैं, अब प्रश्न ये है, कि ये दलित आये कहाँ से - इसकी जड़ में जातिवाद है। भारत में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में जातिप्रथा किसी न किसी रूप में व्याप्त है, जो एक गंभीर सामाजिक कुरीति है।

वैदिक काल में वर्ग-विभाजन किया जाता था, जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता था। यह जातिगत न होकर गुण एवं कर्म पर आधारित

था। समाज चार वर्गों में विभाजित था। ब्राह्मण-धार्मिक तथा वेदों से जुड़े कार्य करते थे। क्षत्रिय - देश की रक्षा तथा प्रशासन से जुड़े कार्य करते थे। वैश्य-कृषि और व्यापार का कार्य करते थे तथा शूद्र को इन तीनों वर्गों की चाकरी करनी पड़ती थी। वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था में सबसे बड़ा अंतर यह है कि वर्ण का निर्धारण व्यवसाय से होता था जबकि जाति का निश्चय जन्म से होता था। इस प्रकार जाति-प्रथा भ्रष्ट सिद्ध होती गई।¹

प्रो रूडोल्फ के अनुसार “भारत राजनीतिक लोकतंत्र के संदर्भ में जाति वह घुरी है, जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है, कि इसके जरिए भारतीय को लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।” प्रो रजनी कोठारी अपनी पुस्तक “कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स”² में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनका मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है, कि भारत में जाति प्रथा खत्म हो रही है ? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि मानों जाति और राजनीति परस्पर विरोधी संस्थाएँ हैं।

भारत में जाति और राजनीति में आपसी संबंध को समझने के लिए चार प्रमुख बिन्दुओं को समझना आवश्यक है :-

- (1) भारत में सामाजिक व्यवस्था का संगठन ही जाति के आधार पर हुआ है। राजनीति केवल सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र है, इसलिए सामाजिक व्यवस्था राजनीति का स्वरूप निर्धारित करती है।
- (2) लोकतांत्रिक समाज में राजनीतिक प्रक्रिया जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है ताकि उनका सहयोग और समर्थन के द्वारा अपनी राजनीतिक स्थिति को और भी अधिक मजबूत बना सके।
- (3) भारतीय राजनीति सदैव जाति के इर्द-गिर्द घूमती है, यदि किसी व्यक्ति विशेष को राजनीति में सफलता चाहिए तो वह किसी संगठित जाति का सहारा लेता है।
- (4) वर्तमान में जाति विशेष का संगठन ही ज्यादातर राजनीति में भाग ले रही है। अतः स्पष्ट है कि वर्तमान में जाति का विशेष “राजनीति” में है।

समाज के विभिन्न वर्गों तथा जातियों का समर्थन पाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन के नेता उन सब संस्थानों के खिलाफ थे जिनकी प्रवृत्ति भारतीय जनता को विभाजित करने की थी। सार्वजनिक प्रदर्शन विशाल जनसभाओं और सत्याग्रह संघर्षों में सामूहिक रूप से भाग लेने से जाति चेतना कमजोर पड़ गयी, जो लोग स्वतंत्रता

और समानता के नाम पर विदेशी शासन में आजादी के लिए लड़ रहे थे, वे जाति व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार आरम्भ से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और वस्तुतः संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन जातिगत विशेषाधिकारों का विरोधी था। उसने जाति लिंग धर्म के भेदभाव के बिना व्यक्ति के विकास के लिए समान नागरिक अधिकारों तथा समान स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया।³

जाति व राजनीति में संबंध

भारतीय संविधान द्वारा अस्पृश्यता को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया जिससे सभी जातियों को समानता का दर्जा हासिल हुआ है। आरक्षण के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल, सरकारी सेवाएँ, विधानमण्डलों, और सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों ने प्रवेश किया है। इन नवीन परिस्थितियों ने जाति व्यवस्था के स्वरूप को ही बदल कर रख दिया है। भारतीय संविधान द्वारा राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को क्रियान्वित किया गया है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को एक मत का अधिकार प्रदान किया है तथा वह किसी भी राजनीतिक गतिविधि में भाग ले सकता है, जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए विधानमण्डलों में स्थान आरक्षित रखे गये हैं। सरकारी तथा विधानमण्डलों में इनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया गया है, जिससे इनकी राजनीतिक महत्ता में वृद्धि हुई है। इन सुविधाओं तथा समानताओं से इन जातियों की राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि हुई है ताकि इनको यह महसूस होने लगा है कि राजनीतिक सत्ता का संतुलन उनके हाथों में है। वर्तमान में जो उम्मीदवार पिछड़ी व अनुसूचित जातियों के वोट प्राप्त करता है वही चुनाव जीतता है।⁴

भारतीय संविधान द्वारा पिछड़ी व दलित जातियों को कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। परन्तु इन सुविधाओं का लाभ इन जातियों के आम आदमी नहीं उठा पाये, बल्कि कुछ लोगों ने ही इनका लाभ उठाकर राजनीतिक उपलब्धियाँ हासिल की हैं, जिससे जातीय विशिष्ट वर्ग का विकास हुआ है। प्रत्येक राजनीतिक दल इन विशिष्ट वर्ग के सहारे की राजनीतिक उपलब्धि प्राप्त करने का प्रयास करता है, इस प्रकार भारत में जाति का राजनीतिकरण हुआ है।

दलित चिंतक पूरणमल के अनुसार “जाति आज राजनीति एवं प्रशासन के लिए भी एक चुनौती बन चुकी है तथा ‘जाति का राजनीतिकरण’ आज देश के लिए एक गंभीर चुनौती बनकर राष्ट्रीय एकता के लिए ही संकट पैदा कर चुका है, जाति पर आधारित राजनीतिक दल, चुनावों में जाति के आधार पर

उम्मीदवारों का चयन, जाति के आधार पर चुनाव प्रचार एवं मतदान, जाति के आधार पर मन्त्रिमण्डलों का चयन, जाति के आधार पर मन्त्रिमण्डलों का गठन एवं अन्य राजनैतिक पदों पर नियुक्तियाँ और अन्ततः जाति के आधार पर आरक्षण की माँग क्या राष्ट्रीय विकास में सहायक है।'⁵

जाति और राजनीति में अन्तः क्रिया

भारत में जाति राजनीतिक क्रियाशीलता का एक अभिन्न अंग है। यह दबाव समूह के रूप में काम करती है, इसके सदस्य इसे छोड़कर किसी दूसरे समूह का हिस्सा नहीं बन सकते तथा यह राजनीतिक शक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आ रही है। ऐसा समाज जहाँ राजनीतिकरण स्थायी प्रभाव रखता है, वहाँ हमें राजनीति के जाति पर प्रभाव को अधिक महत्व देना चाहिए। रजनी कोठारी का मानना है कि राजनीति का जातिकरण नहीं होता, बल्कि जाति का राजनीतिकरण होता है। जाति व राजनीति की अन्तःक्रिया को स्पष्ट करने के लिए रजनी कोठारी इसे तीन भागों में बांटा है जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है :-

लौकिक पक्ष—यद्यपि अन्तःक्रिया की व्यवस्था के रूप में जाति हमारा ध्यान नहीं खींच पाती, तथापि लौकिक विकास के दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था के कई महत्वपूर्ण लक्षण हैं। जाति के अन्दर विवाह, रीति-रिवाजों द्वारा जाति की पृथक्, इकाई को कायम रखने का प्रयत्न आदि। लेकिन इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि जातियों में आपस में प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा और पद बढ़ाने का भी प्रयास करती हैं। जाति के लौकिक संगठन के दो ही रूप थे - एक शासकीय रूप अर्थात् जाति पर आधारित गाँव की पंचायत और चौधराहट, दूसरा रूप राजनीतिक था अर्थात् जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का बलवर्धन या बलहास इस बात पर निर्भर था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रिय सत्ता से किस प्रकार के सम्बन्ध थे। धर्म व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर जातियों की स्थिति बनती या बिगड़ती थी। आज भी इन सब बातों का महत्त्व है।

एकीकरण पक्ष :- जाति जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित कर देती है, इससे प्रत्येक व्यक्ति का अपने समाज में लगाव पैदा हो जाता है और आपस में भी एक दूसरे से बंधा रहता है। अवश्य ही व्यक्ति का लगाव और निष्ठा अपने छोटे से समूह, विरादरी या जाति में रहता है, परन्तु हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बड़ी या उच्च स्तर निष्ठाओं की प्रेरणा भी व्यक्ति की जाति के ढाँचों से ही होती है। एक लोकतन्त्रीय राष्ट्र

के निर्माण के संदर्भ में जाति प्रथा का यह प्रभाव नज़र अंदाज नहीं किया जाना चाहिए। लोकतंत्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है।

चैतन्य पक्ष—जाति व्यवस्था में प्रत्येक का ही नहीं बल्कि प्रत्येक जाति का भी स्थान निश्चित होता है। प्रत्येक जाति के सदस्य को यह पता होता है कि उनकी जाति किसी अन्य जाति से ऊँची या नीची है। जिन जातियों की स्थिति नीची होती है वे स्वयं को ऊँचा उठाने की कोशिश करती हैं तथा कुछ जातियाँ अपना पद ऊँचा उठाने में सफल भी होती हैं।⁶ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है।

रजनी कोठारी के अनुसार जातीय सदस्यों ऐसा करने के लिए सांस्कृतिक, लौकीकरण तथा बड़े लोगों से संबंध बढ़ाते हैं और राजनीति में हिस्सा लेते हैं। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की प्रवृत्तियों के कारण अक्सर गैर-ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति को छोड़ देती हैं और अन्य और ब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी जाति अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं, जैसे गुजरात के पाटीदार, राजस्थान के राजपूत, जाट आदि। कुछ इलाकों में जहाँ पर ब्राह्मणों ने आधुनिकीकरण की प्रतिक्रिया के नेतृत्व न ही किया, वहाँ अधिकार सीधे कुछ शक्तिशाली षक जातियों के हाथ में आए, इसलिए यहाँ ब्राह्मणीकरण या अब्राह्मणवाद की जरूरत नहीं पड़ी और ये जातियाँ सीधे आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगी व इन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त कर ली। आन्ध्रप्रदेश व बिहार में यह स्थिति स्पष्ट हुई, यहाँ पर राजनीति जातियों की गुटबन्दी व गठजोड़ पर आधारित है।

संस्कृतिकरण की प्रवृत्ति कुछ सामाजिक तनाव और अस्थिरता भी उत्पन्न करती है। जैसे यहूदी और नीग्रो लोग गैरे या यूरोपीय लोगों की नकल करते हुए भी मन में उनके प्रति विरोध, ईर्ष्या या नफरत का भाव रखते हैं, उसी प्रकार के भाव छोटी जातियाँ भी ब्राह्मणों के प्रति रखती हैं। फिर भी छोटी या निम्न जातियों के स्तर पर बढ़ोतरी की प्रक्रिया जारी रहती है और यहाँ हिन्दु समाज की शक्ति का घातक है।

जाति की राजनीति

जाति को इकाई के रूप में "जाति एक बन्द कोटि वाला समूह है, जिसके सदस्यों की प्रस्थिति, व्यवसाय, जीवन साथी को चुनने

का क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तर्क्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। व्यवस्था के संदर्भ में जाति प्रतिबन्धों का संग्रह है, इसमें सदस्यता परिवर्तन, व्यवसाय परिवर्तन, विवाह व सहभोज इत्यादि प्रतिबन्ध समाहित है, साथ ही जाति को मूल्यों, विश्वासों तथा प्रचलनों के संग्रह के रूप में भी देखा जा सकता है।” जे. एच. हट्टन के अनुसार “जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अनेक आत्मकेन्द्रित और एक दूसरे से पृथक इकाइयों (जातियों) में विभाजित है। इन जातियों के आपसी सम्बन्ध उच्चता और निम्नता के आधार पर सांस्कृतिक रूप में निर्धारित होते हैं।”⁷

भारतीय समाज में एक जाति के व्यक्ति पर अन्य जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान के क्षेत्र में अनेक प्रतिबन्ध है, अधिकांश जातियों के अपने निश्चित व्यवसाय होते हैं सभी जातियों में ऊँच-नीच का एक स्पष्ट संस्तरण है जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च है व जाति व्यक्ति के जन्म में निर्धारित होती है।” संरचनात्मक विशेषताओं के तहत सम्पूर्ण जाति व्यवस्था अनेक खण्डों में विभाजित होती है, तथा प्रत्येक खण्ड सजातीयता की भावना के द्वारा अपने सदस्यों को संगठित रखने और उन्हें जाति नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करता है। सम्पूर्ण जाति व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँच-नीच का एक निश्चित संस्तरण मिलता है। संस्थात्मक विशेषताओं से तात्पर्य उन प्रतिबन्धों से हैं, जिनका जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विशेष महत्त्व है, इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति के सदस्यों के द्वारा स्पर्श किए भोजन को ग्रहण करने की अनुमति दी जाती है। तथा प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अपने आनुवंशिक व्यवसाय के द्वारा आजीविका अपार्जित करे। सबसे कठोर प्रतिबंध विवाह के क्षेत्र में है जिसमें व्यक्ति को अपनी जाति और उपजाति के बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती है व अन्तर्विवाह ही जाति व्यवस्था का सार तत्व है। सामाजिक व्यवस्था में सभी जातियों के अधिकार उनकी उच्चता व निम्नता के अनुसार निर्धारित किए गए हैं।”

क्रोबर ने जाति को परिभाषित करते हुए कहा है कि “जाति नृवंशीय इकाई का एक अन्तर्विवाही, वंशानुगत उपविभाग है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य ऐसे भागों की तुलना में उच्च या निम्न होती है। जातियाँ सामाजिक वर्गों के विशेष स्वरूप है जो कम से कम प्रवृत्ति में प्रत्येक समाज में मिलती है।⁸ ब्रूल में जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि “जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित समूह है व जाति में मुख्यतः

तीन विशेषताएँ समाहित है - पैतृक, विधिवद्धता तथा तिरस्कार। अन्तर्विवाह सहभोज प्रतिबन्धों तथा सम्पर्क से स्पष्ट होती है।⁹ ई. ब्लेट ने जाति की परिभाषा इस प्रकार दी है “जाति सगोत्र विवाह परक एक समूह है या ऐसे परिवारों का संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है तथा इसकी सदस्यता वंशानुगत होती है। इस समूह में सामाजिक निषेध रहता है कि सदस्यगण अपनी जाति से बाहर विवाह सम्बन्ध न करें। इसके अलावा इनकी वंशानुगत आजीविका होती है तथा ये एक ही वृत्ति ग्रहण करने में विश्वास रखते हैं। सभी सदस्य अपनी जाति का एक ही उद्भव मानते हैं तथा उस जाति में सम्मिलित परिवार उस जाति के अभिन्न अंग होती है।”¹⁰

माननीय सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह महोदय ने इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ के निर्णय में लिखा है - “संविधान ने जाति व्यवस्था को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया और इसने विधि के समक्ष समता का आश्वासन दिया। अनुच्छेद 15(2) और 16(2) के अधीन जाति के प्रति निर्देश केवल इसे समाप्त करने के लिए है”, इसी निर्णय में आगे लिखा गया है - “अब जाति व्यवस्था, जिसे संविधान के रचयिताओं ने समाप्त कर दिया है, विभिन्न रूपों में अपना घृणित सिर उठाने का प्रयत्न कर रही है।”¹¹

बताया जा सकता है कि भारत के संविधान ने जाति व्यवस्था को समाप्त नहीं किया है, संविधान ने जिसे समाप्त किया है, वह है - “अस्पृश्यता” न कि जाति व्यवस्था। संविधान के अनुच्छेद 15(2) ने जाति को धर्म, मूलवंश, लिंग और जन्म स्थान के साथ रखा है। स्पष्ट है कि संविधान ने न धर्म को समाप्त किया है, न मूलवंश को, न लिंग का न जन्म स्थान को लिखा यह गया है कि कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इसमें से किसी के आधार पर - (क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या (ख) राज्य निधि में घोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाओं, स्नानघाटों, सड़कों और सार्वजनिक सभागत के स्थानों के उपयोग के संबंध या शर्त के अधीन नहीं होगा। लेकिन माननीय न्यायधीश लेख है कि इस अनुच्छेद ने जाति को समाप्त कर दिया है। संविधान के अनुच्छेद 16(2) में लिखा गया है कि “राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर न तो कोई नागरिक अपात्र होगा और न उससे विभेद किया जायेगा। इसमें संविधान ने जाति या धर्म को समाप्त करने की कोई बात नहीं की है।

कोई भी राज्य ऐसा नहीं है, जहाँ पर राजनीति जातिवाद से प्रभावित नहीं हो रही। केरल, तमिलनाडु, राजस्थान, हरियाणा, बिहार, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि सभी राज्यों की राजनीति पर जातिवाद स्पष्ट रूप से हावी है।

जाति के आधार पर भेदभाव भारत में स्वतन्त्रा से पहले भी विद्यमान था, लेकिन स्वतन्त्रा के बाद प्रजातन्त्रों की स्थापना होने से समझा गया कि जातिगत भेद समाप्त हो जायेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राजनीतिक संस्थाएँ भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। फलस्वरूप जाति का राजनीतिकरण हो गया। जाति का राजनीतिकरण आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहा है, क्योंकि जाति को राष्ट्रीय एकता, सामाजिक साम्प्रदायिक सद्भाव एवं समरसता का निर्माण करने हेतु आधार नहीं बनाया जा सकता।

प्रत्येक राज्य में दलित अल्पसंख्यक है, जो विभिन्न जातियों के साथ मिश्रित जनसंख्या वाले समुदायों के लोगों के साथ रहते हैं। इसका अर्थ यह है, कि चुनाव के समय वे उन निर्वाचन क्षेत्रों में भी निर्णायक प्रभाव डाल सकते हैं, संघ के सभी राज्यों में और हर राज्य के प्रत्येक जिले में 10 प्रतिशत से 20 प्रतिशत के बीच उनका वोट है। इसलिए राजनीतिक दलों को अधिकांश लोकसभा और विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों में दलित हितों का ध्यान रखना पड़ता है। दलित मतदाता लगभग 300 निर्वाचन क्षेत्रों के निर्णय में असरदार भूमिका निभाते हैं।

पूरे देश में दलितों को तकरीबन एक ही तरह के संरचनात्मक दमक का सामना करना पड़ा है। इस समान अनुभव के कारण राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर दलितों की गोलबंदी बढ़ाने में मदद मिली है। इसका कारण यह है कि जाति व्यवस्था पूरे भारत में एक ही तरह से कार्य करती है। तमिलनाडू के गांवों की तरह उत्तर प्रदेश के गांवों में भी दलितों को सबसे निम्न कोटि का कार्य दिया जाता है, उन्हें उच्च जाति की बस्तियों से दूर बसने पर मजबूर किया जाता है, उन्हें दूषित जल स्रोतों से ही पानी लेने की अनुमति दी जाती है, और मंदिर में प्रवेश पर रोका जाता है। इसलिए वे गांवों, जिलों और राज्यों के बीच क्षैतिज एकजुटता और जुड़ाव का विकास कर सकते हैं।

जातिप्रथा के कारण समाज टुकड़ों में बँट गया, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव बढ़ता गया, अहंकार और द्वेष के फलस्वरूप भारतवासी कभी एक नहीं हो सके, फलस्वरूप भारतवासियों को हमेशा विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा।

अति-पिछड़े और दलित एक छोटी संख्या वाली जातियाँ हैं और इनका ठिकाना गाँव शहर में जहाँ-तहाँ फैला हुआ है, और इनकी

इस अवस्था के कारण लोकतांत्रिक राजनीति में या चुनावों में इनका कोई खास योगदान नहीं रहता। ये ज्यादा समय अपनी जीविकोपार्जन की समस्याओं को सुलझाने में लगे होने के कारण ज्यादा समय राजनीतिक चुनावों को नहीं दे पाते। शिक्षा के अभाव के कारण भी इनमें कोई बड़ा राजनीतिक नेतृत्व विकसित नहीं हो पाता।

वर्तमान में धीरे-धीरे सरकारी योजनाओं के लाभ लेते हुए अब इनमें चेतना जागृत हो रही है, इनका रूझान अब शिक्षा तथा विकास की ओर अग्रसर हो रहा है, जिससे राजनीति में भी इनकी भागीदारी बढ़ रही है, ये धीरे-धीरे संगठित होकर एक बड़े बोट बैंक में तब्दील हो रही है।

निष्कर्ष

अतः निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि भारतीय समाज जातिगत भेद-भाव से इस कदर भरा पड़ा है, जो भयानक बीमारियों की तरह हमारे समाज को जकड़े हुए है, इनका निदान खोज पाना कठिन मालूम पड़ता है, यह केवल व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खाई पैदा नहीं कर रही, बल्कि राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भी बाधा पहुँचाने का कार्य कर रही है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास का मत है कि परंपरावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है, कि ये राजनीतिक संस्थाएँ अपने मूलरूप में कार्य करने में समर्थ नहीं हैं' अतः जातिवाद देश समाज और राजनीति के लिए बाधक सिद्ध प्रतीत होती है।

यह दुर्भाग्य की ही तो बात है कि भारतीय राजनीति में जाति व्यवस्था इस प्रकार की स्थितियों का निर्धारण कर रही है और ग़रीब हमेशा दलित अशिक्षित सामंतवादी उपनिवेश बने रहे। जात-पात बहुल हमारे इस समाज से यह अपेक्षा भी कैसे की जा सकती है, कि समाज में व्याप्त यह भयंकर बीमारी अचानक से चमत्कारिक ढंग से ठीक हो जाय। इस सच्चाई को कोई कितना भी नकारे लेकिन आज भी भारतीय जनतंत्र की राजनीति के केन्द्र में नागरिक न होकर जाति ही है। देश के स्वतंत्र होने के बावजूद भी समाज से यह बीमारी दूर नहीं हो सकी है। भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता को तो गैर कानूनी घोषित कर दिया, लेकिन अभी भी अस्पृश्यता समाज से मिटी नहीं इसके फलस्वरूप आज भी समाज का काफी बड़ा हिस्सा मानवाधिकारों से वंचित है।

लोकतंत्र व्यक्ति को इकाई मानता है, न कि किसी जाति या समूह को। जाति और समूह के आंतक से मुक्त रखना ही लोकतंत्र का

आग्रह है। लोकसभा तथा विधानमंडलों के लिए जातिगत आधार पर आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है। केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों तथा पदोन्नतियों के लिए भी जातिगत आरक्षण को अपनाया गया है। हरिजनों तथा अनुसूचित जातियों को प्रत्येक स्थान पर यहाँ तक कि मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थियों की भर्तियों के लिए भी आरक्षण दिया गया है। यह कहाँ तक उपयुक्त है। आरक्षण व्यवस्था को समाप्त कर इसका आधार सामाजिक और आर्थिक स्थिति को बनाया जाय।

स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में निश्चित तौर पर अनेक परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं, परन्तु इस तमाम परिवर्तनों के बावजूद जाति की वंशानुगत सदस्यता स्तरण तथा इसमें सजातीय विवाह संबंधी पक्षों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। भारतीय जातीय व्यवस्था आधुनिक परिवर्तनों के साथ अभी भी अपनी निरंतरता बनाए हुए है। तमाम परिवर्तनों के बावजूद समकालीन भारत में जाति-व्यवस्था अपने अनुकूलन की अद्भूत क्षमता एवं लोकशाही की संख्याबल की महत्ता के कारण अपनी निरंतरता को बनाए हुए है। आज भी भारत के ग्रामीण समाजों में व्यक्ति पहचान उनकी जाति से होती है। आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति की होड़ में विभिन्न जातियाँ एकता की जगह प्रतिस्पर्दात्मक एकता का विकास हुआ है। शहरों में भी अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु जातिवाद एक प्रमुख क्रियाविधि के रूप में क्रियाशील है। हमारे देश के बुद्धिजीवी और राजनीतिक नेता इस संदर्भ में ईमानदारी के साथ सोचे और

इस समस्या एवं इसमें उत्पन्न अन्य समस्याओं का समाधान करने हेतु गंभीरतापूर्वक प्रयास करें।

संदर्भ सूची

1. अखिल भारतीय शोषित कर्मचारी संघ, पृ.सं. 726
2. कोठारी, प्रो. रजनी, कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स, 1973
3. भारत का संविधान, 1991, पृ.सं. 5
4. चौबे, कमल नयन, जातियों का राजनीतिकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 34
5. आहुजा, राम, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1995, पृ.सं. 202
6. श्री निवास, एम. एन., कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया एण्ड अवर एसेज, एशिया प्रकाशन, बम्बई, 1962, पृ.सं. 66
7. हट्टन जे. एच., कास्ट इन इण्डिया: इट्स नेचर, फंक्शन एण्ड ओरिजन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, बम्बई, 1961, पृ.सं. 69
8. कोबर, ए. एल., कास्ट, इन्सायक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस, लन्दन, वॉ. 1939, पृ.सं. 254
9. बुग्गल, सी., द एसेक्स एण्ड द रियलिटी ऑफ कास्ट सिस्टम, कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डिया सोशियोलॉजी, नं. 2, 1958, पृ.सं. 49
10. ब्लंट, ई. ए. एच., द कास्ट सिस्टम ऑफ नार्दन इण्डिया, एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1969, पृ.सं. 112
11. राजकिशोर (संपा.), जाति प्रथा का विकास, आज के प्रश्न, जाति का जहर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ.सं. 15-16